इकाई -16

नाटक के भेदक तत्त्व

इकाई की रुपरेखा

16.0 उद्देश्य

हम एम० ए० संस्कृत उत्तरार्द्ध के प्रश्न पत्र नाटक तथा नाट्यशास्त्र (MASA-06) के अन्तर्गत इकाई सं० 16 नाटक के भेदक तत्त्व का अध्ययन करने जा रहे हैं। उक्त इकाई का अध्ययन करने के बाद आप निम्नलिखित तथ्यों का ज्ञान कर पायेगें-

- नाटक क्या है ? इसे नाट्य, रूप एवं रूपक क्यों कहते है ?
- कथावस्तु या इतिवृत्त का ज्ञान एवं इसके प्रमुख भेदों का ज्ञान।
- अर्थप्रकृति, कार्यावस्था, पञ्चसन्धि का ज्ञान।
- अर्थोपक्षेपकों का ज्ञान।
- नेता किसे कहते है ? नायक तथा नायिकाओं के भेदों का ज्ञान।
- रस किसे कहते है ? विभाव,अनुभाव,संचारीभाव तथा स्थायीभाव का ज्ञान।

16.1 प्रस्तावना

आचार्य धनञ्जय के अनुसार अवस्था का अनुकरण नाट्य कहलाता है- ''अवस्थानुकृतिर्नाट्यं।'' नाट्य के दस भेद माने है- 1. नाटक, 2. प्रकरण, 3. भाण्, 4. प्रहसन, 5. डिम, 6. व्यायोग, 7. समवकार, 8. वीथी, 9. अंक और 10. ईहामृग। यह नाट्य दृश्य होने के कारण 'रूप' कहलाता है और आरोप किया जाने के कारण 'रूपक' कहलाता है-'रूपं दृश्यतयोच्चते। 'रूपकं तत्समारोपात्।'

इसकी वृत्ति में उन्होंने स्पष्ट किया है कि नाट्य, रूप और रूपक- ये तीनों शब्द एकार्थवाचक है केवल प्रवृत्तिनिमित्त का भेद है। जैसे एक ही व्यक्ति परम ऐश्वर्यवान् होने के कारण इन्द्र तथा पुरी को विदीर्ण करने के कारण पुरन्दर कहलाता है। उसी प्रकार अभिनेय या दृश्य काव्य में उदात्त आदि अवस्थाओं का अनुकरण किया जाता है, अतः वे नाट्य कहलाते है, वे दृश्य है इसी से वे रूप कहलाते है और वहाँ नट में राम आदि के रूप का आरोप किया जाता है, इसीलिये वे रूपक कहलाते है- ''नटे रामाद्यवस्थारोपेण वर्तमानत्वाद्रुपकं मुखचन्द्रादिवत्, इत्येस्मिन्नर्थे प्रवत्तेमानस्य शब्दत्रयस्य ''इन्द्रः पुरन्दरः शक्रः इतिवत्सप्रवृत्तिनिमित्तभेदो दर्शितः।'' यहाँ नाटक के भेदक तत्त्व अर्थात् वे तत्त्व जिनके कारण नाटक उत्कृष्ट या निकृष्ट कहा जाता है, का वर्णन किया जा रहा है ।आचार्य धनञ्जय रूपकों के वस्तु, नेता और रस- ये तीन भेदक माने गये है- ''वस्तु नेता, रसस्तेषां भेदकः''। इन भेदको के तीन तत्त्व के रूप में उसी प्रकार स्वीकार किया जाता है, जिस प्रकार अरस्तु ने ड्रामा (त्रासदी) के 6 अंग माने है- 1. कथावस्तु, 2. चरित्र-चित्रण, 3. शैली, 4. विचार (संवाद), 5. अभिनेयता और 6. गीत । कुछ समीक्षक वस्तु, नेता और रस को रूपकों का भेदक मात्र मानते हुए अंग रूप में कथा, संवाद और रंगनिर्देश को रूपक का अंग मानते है तथा अरस्तु द्वारा निर्दिष्ट सभी 6 अंगों का इन तीनों में अन्तर्भाव कर लेते है। यहाँ संक्षेप में भेदको का वर्णन प्रस्तुत है।

16.2 कथावस्तु या इतिवृत्त

रूपकों या नाटकों का पहला भेदक वस्तु है। इसे ही कथावस्तु, इतिवृत्त आदि नामों से पुकारा जाता है। कथावस्तु के निम्नलिखित भेद है -

16.2.1 कथावस्तु के मुख्य भेद

कथावस्तु के मुख्य भेद के आधार पर कथावस्तु दो प्रकार की होती है- एक आधिकारिक, दूसरी प्रासंगिक- ''तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः।''

16.2.1.1 आधिकारिक

आधिकारिक कथावस्तु मुख्य तथा प्रासंगिक कथावस्तु गौण होती है। आधिकारिक कथावस्तु की व्याख्या करते हुए कहा है कि फल के साथ स्व-स्वामि-भाव सम्बन्ध अधिकार कहलाता है और फल का स्वामी अधिकारी। उस अधिकार या अधिकारी के द्वारा किया गया, फल-प्राप्ति तक पहुँचने वाला जो वृत्त या कथा है, वहीं आधिकारिक वस्तु है-

अधिकारः फलस्वाम्यधिकारी च तत्प्रभुः।
तन्निर्वृतभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम्।।

16.2.1.2 प्रासंगिक

प्रासंगिक जो इतिवृत्त आधिकारिक कथा के प्रयोजन की सिद्धि के लिये होता है, किन्तु प्रसंग से उसके अपने प्रयोजन का भी सिद्धि हो जाता है, वह प्रासंगिक इतिवृत्त कहलाता है, क्योंकि उसकी प्रसंग से सिद्धि होती है-

''प्रासङिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङंतः।''

इस प्रकार आधिकारिक कथावस्तु रूपक के नायक या नेता के फल की प्राप्ति से सम्बद्ध होती है, जो निश्चित् फल की, निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ती है। प्रासंगिक वस्तु इस महासरिता मे गिरकर उसके प्रवाह में अपनापन खो देने वाले, किन्तु आधिकारिक वस्तु को गति प्रदान करने वाले क्षुद्र नदी व नाले की तरह है। उदाहरणार्थ रामकथा मे राम की कथा मुख्य है, उसका फल रावण-वध तथा सीता

की प्राप्ति आदि है। सुग्रीव की कथा इस प्रधान फल की प्राप्ति में उपकरण है, किन्तु उस कथा का फल बालिवध और राज्य-लाभ भी प्रसंगसे सिद्ध हो जाता है।

प्रासंगिक इतिवृत्त पताका और प्रकरी के भेद से दो प्रकार का होता है- ''सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्।'' जो प्रासंगिक वृत्त के साथ दूर तक चलता है। वह पताका कहलाता है। जैसे सुग्रीव आदि का वृतान्त, जो रामकथा के साथ दूर तक चलता है। जिस प्रकार पताका-ध्वजा नायक का असाधारण चिन्ह होती है और उसका उपकार कहते है। जो प्रासंगिक वृत्त थोड़ी दूर तक चलता है, वह प्रकरी कहलाता है। जैसे रामायणादि में श्रवणा (शबरी) आदि का वृतान्त है।

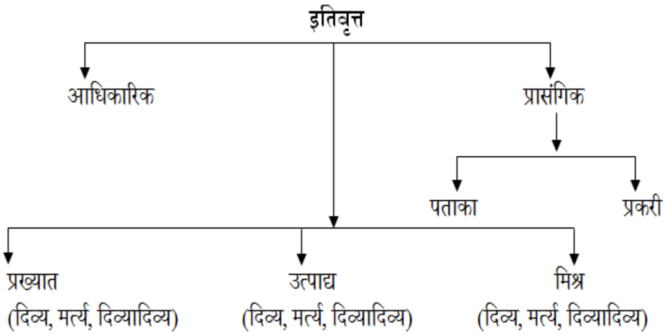
पताका और प्रकरी दोनों ही प्रासंगिक कथावस्तु है, दोनों आधिकारिक कथा के प्रवाह में योग देती है और प्रधानफल की सिद्धि में सहायक होती है, फिर भी दोनों में अन्तर है- 1. पताका-नायक का कुछ अपना भी प्रयोजन होता है। वह अपने प्रयोजन की सिद्धि के साथ-साथ प्रधान नायक के कार्य की सिद्धि में सहायक होता है, जैसे ' रामचरित में सुग्रीव है, जो बालिवध या राज्यप्राप्ति के रूप में अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये राम का सहायक होता है। दूसरी ओर 'प्रकरी' का नायक अपने किसी प्रयोजन की सिद्धि की अपेक्षा न करके निरपेक्ष भाव से प्रधान नायक का सहायक होता है जैसे रामचरित मे जटायु। 2. पताका की कथा या नाट्य में बहुत दूर तक चलती है किन्तु प्रकरी की कथा एकादेशी होती है।

16.2.2 कथावस्तु के गौण भेद

कथावस्तु के गौण भेद के आधार पर कथावस्तु का एक और वर्गीकरण उसके स्वरूप विवेचन के आधार पर किया गया है- 1. प्रख्यात, 2. उत्पाद्य, तथा 3. मिश्र-

प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात्त्रेधापि तत्त्रिधा।
प्रख्यातमितिहासादेरूत्पाद्यं कविकल्पितम्।।
मिश्रं सङंरात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः।।

प्रख्यात कथा इतिहासादि में प्रसिद्ध कथावस्तु है। प्रख्यात कथावस्तु के प्रयोग में कवि या रूपककार को विशेष सावधान रहना पड़ता है। क्योकि इसमें वह अपनी ओर से स्वरूप परिवर्तन नहीं कर सकता। किन्तु परन्तु रस-दोष के अनौचित्य को हटाने के लिए कुछ नूतन परिवर्तन उस अंश में कर सकता है, जैसा कि कालिदास ने 'शाकुन्तल' में दुष्यन्त के चरित्र को बचाने के लिए 'दुर्वासाशाप' को जोड़ा है या भवभूति ने 'महावीरचरित' में राम के उदात्त चरित्र को बचाने के लिए बालि को स्वतः राम से लड़ने के लिए आया हुआ दिखलाया है। उत्पाद्य इतिवृत्त कवि का स्वयं का कल्पनाप्रसूत होता है। इसका इतिहासादि से सम्बन्ध होना आवश्यक नही है या ऐतिहासिका के निर्वाह का कोई प्रतिबन्धक नहीं होता। शुद्रक के मृच्छकटिक या भवभूति मालतीमाधव की कथा उत्पाद्य ही है। मिश्र इतिवृत्त की पृष्ठभूमि प्रख्यात होती है, परन्तु उसमें बहुत-सा अंश कवि-कल्पना-प्रसूत भी रहता है। प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र- ये सभी इतिवृत्त दिव्य, मर्त्य आदि भेद से भिन्न-भिन्न होते है। इस प्रकार इतिवृत्त के अनेक भेद है, जिन्हें निम्न तालिका द्वारा और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है-



16.3 अर्थप्रकृति

अर्थ शब्द फल या प्रयोजन का वाचक है। प्रकृति शब्द का अर्थ है- हेतु या कारण । इस प्रकार फल की सिद्धि के उपाय ही अर्थप्रकृतियाँ कहलाती है। अर्थप्रकृतियाँ पाँच है- बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य-

बीजबिन्दु पताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणः।
अर्थप्रकृतयः पश्च ता एताः पारिकीर्तिताः।।

1. **बीज -** ''स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा " विशेष प्रकार का इतिवृत्त के फल, जो किसी बीज के समान आरम्भ में सूक्ष्म रूप से कहा जाता है और आगे चलकर अनेक प्रकार से विस्तार को प्राप्त करता है, वह बीज कहलाता है। जैसे रत्नावली नाटिका में वत्सराज को रत्नावली की प्राप्ति फल है, उसका हेतु है- दैव की अनुकूलता से युक्त यौगन्धरायण का उद्योग, उसे विष्कम्भक मे बीज रूप में रखा गया है- यौगन्धरायण कहता है ''इसमें क्या सन्देह है?'' अनुकूल दैव द्वीप से भी, सागर के मध्य से भी, दिशाओं के छोर से भी अभीष्ट वस्तु को लाकर शीघ्र मिला देता है। उस उक्ति से लेकर स्वामी के अभ्युदय के लिये प्रारम्भ किये गये इस कार्य में दैव ने भी इस प्रकार हाथ का सहारा दे दिया। अतः सचमुच ही इसकी सिद्धि में सन्देह नहीं है। फिर भी अपनी इच्छा से ही सब कुछ करने वाला मैं स्वामी से डर रहा हूँ|'' इस कथन तक बीज का निर्देश किया गया है।
2. **बिन्दु-** ''अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुश्छेदकारणम्।'अवान्तर प्रयोजन की समाप्ति से कथावस्तु के मुख्य प्रयोजन में विच्छेद प्राप्त हो जाने पर जो उसके अविच्छेद का कारण होता है, वह बिन्दु कहलाता है । जैसे रत्नावली नाटिका में महाकार्य है-रत्नावली-समागम तथा चक्रवर्तित्व प्राप्ति । किन्तु इसकी कथावस्तु में अन्य अनेक अवान्तर प्रयोजन है, जैसे अनंगपूजा की घटना का प्रयोजन है- सागरिका के ह्रदय में विस्मय उत्पन्न करना इत्यादि इस प्रकार के अवान्तर प्रयोजन की समाप्ति हो जाने पर मुख्य प्रयोजन के विच्छिन्न होने का अवसर उपस्थित हो जाता है, किन्तु ''उदयस्येन्दोरिवोद्वीक्षते", इत्यादि कथन के द्वारा अग्रिम प्रयोजन की सिद्धि का निमित्त प्रस्तुत कर दिया जाता है। वह है- सागरिका के मन में ' औत्सुक्य' उत्पन्न करना। इस प्रकार दशरूपक की दृष्टि से सागरिका के ह्रदय में औत्सुक्य या अनुराग आदि की उत्पत्ति ही अवान्तर बीज-बिन्दु है। इसके द्वारा अंगे कथा-तन्तु अविच्छिन्न रूप में फल-प्राप्ति के कारणों का अनुग्राहक है तथा स्वयं भी परम कारण है। इसका दूसरा नाम अवान्तर बीज भी है। नायक तथा उसके सहायकों के द्वारा अनेकशः फल का अनुसन्धान किया जा सकता है। अतः किसी नाटक आदि में अनेक आर बिन्दु का प्रयोग होता है। बीज और बिन्दु दोनों में समानता

यह है कि- 1. दोनों फलप्राप्ति के उपाय है। तथा 2. फल की प्राप्ति तक दोनों विद्यमान रहते है। दोनों में अन्तर यह है-1. संक्षेप में निर्दिष्ट मुख्यफल का हेतु बीज कहलाता है, जैसे रत्नावली की प्राप्ति का हेतु है- दैव की अनुकूलता से युक्त यौगन्धरायण का व्यापार दूसरी और मुख्य फल का अनुसन्धान करना बिन्दु है, जैसे सागरिका का यह अनुसन्धान कि यहीं राजा उदयन है, जिसके लिये मुझे पिता ने दिया है। 2. बीज का तो मुख्यसन्धि में आरम्भ में निर्देश कर दिया जाता है, किन्तु बिन्दु या निर्देश बाद में होता है।

3. **कार्य-** 'कार्य' शब्द का अर्थ इतिवृत्त का फल या प्रयोजन है, जो त्रिवर्ग प्राप्ति के रूप में है। किन्तु अर्थप्रकृतियों में जिस कार्य का समावेश है, वह फल नहीं है, अपितु फल-प्राप्ति का उपाय है। इस प्रकार फल के अधिकारी व्यक्ति का व्यापार ही कार्य नामक अर्थप्रकृति है। यह कार्य = नायक व्यापार आरम्भ से लेकर फल-प्राप्ति तक चलता रहता है, इसी हेतु कार्य शब्द का फल के अर्थ में भी प्रयोग कर दिया गया है।

4. **पताका और 5. प्रकरी -** इनका विवेचन पूर्व में किया जा चुका है, अतः वहाँ द्रष्टव्य है। उपर्युक्त अर्थप्रवृत्तियों में बीज, बिन्दु और कार्य, में तीन आवश्यक अर्थप्रकृतियाँ मानी गई है, पताका और प्रकरी का सभी रूपकों में होना अनिवार्य नहीं है। जहाँ प्रधान नायक को सहायक की आवश्यकता नहीं होती, वहाँ पताका और प्रकरी भी नहीं होते है।

16.4 कार्यावस्था

फल की इच्छा वाले व्यक्ति द्वारा आरम्भ किये गये कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती है- 1. आरम्भ, 2. यत्न, 3. प्राप्त्याशा, 4. नियताप्ति, 5. फलागम

अवस्थाः पश्र कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः।
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमः।।

1. **आरम्भ-** '' औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभा भूयसे।'' प्रचुर फल की प्राप्ति के लिये उत्सुकता मात्र होना ही आरम्भ कहलाता है । भाव यह है कि '' इस कार्य को मैं करूँगा '' इस प्रकार निश्चय करना ही आरम्भ कहलाता है, जैसे रत्नावली नाटिका में ''स्वामी के अभ्युदय के लिये किये गये तथा दैव के द्वारा हाव का सहारा दिये गये इस कार्य में' आदि कथन के द्वारा वत्सराज उदयन के कार्य का आरम्भ यौगन्धरायण मन्त्री के मुख से दिखलाया गया है, क्यो उस वत्सराज की कार्यसिद्धि मंत्री पर आश्रित है।

2. **प्रयत्न -** ''प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः।।'' जब तक फल की प्राप्ति नहीं होता और उसके लिए अनेक साधनों को जुटाना इत्यादि विशेष प्रकार की चेष्टा की जाती है, तो वहीं प्रयत्न कहलाता है। जैसे रत्नावली नाटिका में सागरिका द्वारा चित्र बनाना वत्सराज इत्यादि वत्सराज उदयन से मिलने के उपाय है- ''तथापि वत्सराज के दर्शन का दूसरा उपाय नहीं है, इसलिये किसी प्रकार चित्र बनाकर मनचाही करूँगी।''

3. **प्राप्त्याशा-** ''उपायापायशंङाभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः।'' उपाय होने पर भी विघ्न की शंका होने के कारण जब फल-प्राप्ति का एकान्ततः निश्चय नहीं होता, वहीं अवस्था प्राप्त्याशा कहलाती है, जैसे रत्नावली नाटिका के तृतीय अंक में सागरिका द्वारा वेष-परिवर्तन और अभिसरण आदि मिलन के उपाय होने पर वासवदत्ता रूपी विघ्न की शंका इस प्रकार विदूषक के कथन द्वारा दिखलाई गई है- 'ऐसा ही है, यदि अकाल की वायु के समान आकर

वासवदत्ता इसे बदल न दे।'' इस प्रकार यहाँ एकान्ततः निश्चित न की हई रत्नावली से मिलने की प्राप्ति बतलाई गई है।

4. **नियताप्ति** -''अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता।।'' विघ्नों के हट जाने पर फल-प्राप्ति का नितान्त निश्चय ही नियताप्ति है । जैसे रत्नावली नाटिका में वासवदत्ता द्वारा सागरिका को बन्दी बना लिसे जाने पर 'सागरिका कठिनाई से जीवित रहेगी' - इस प्रकार आरम्भ करके विदूषक राजा से कहता है-''उपाय क्यों नहीं सोचते।''इसके पश्चात् राजा उदयन कहते है-मित्र, देवी वासवदत्ता को प्रसन्न करने के अतिरिक्त मुझे कोई उपाय दिखलाई नहीं देता। यहाँ अग्रिम चतुर्थ अंक की कथा का बिन्दु जो देवी-प्रसादन है, उसके द्वारा देवीरूपी विघ्न का निवारण हो जाने से निश्चित फलप्राप्ति की सूचना दी गई है।

5. **फलागम-** ''समग्रफलसंपत्तिः फलभोगो यथोदितः।।'' पूर्णरूप से फल की प्राप्ति ही फलागम है। फलागम स्वरूप है-कार्य त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च। कहीं तो फल धर्म, अर्थ, काम में से कोई एक होता है और कहीं एक साथ अन्य किसी एक का अथवा दो का अन्वय भी होता है। जिस रूपक का जो फल होता है, शुद्ध या अन्य से अन्वित अनुबद्ध उसकी पूर्णतः प्राप्ति ही फलागम है। जैसे रत्नावली नाटिका मे काम-सिद्धि का हेतु रत्नावलीसमागम रूप फल है, जो अर्थ-सिद्धि के हेतु चक्रवर्तित्व-प्राप्ति से समन्वित है। अतः दोनों के प्राप्त होने पर ही फल को पूर्णतः सिद्धि अर्थात् फलागम कहलाता है।

अर्थप्रकृतियों और कार्यावस्थाएँ-इन दोनों के उपर्युक्त स्वरूप-विवेचन से यह स्पष्ट है कि बीज, बिन्दु पताका, प्रकरी और कार्य -ये पांच अर्थप्रकृतियों फल-सिद्धि के उपाय है। फल को लक्ष्य करके किये गये कार्य अर्थात् नायक के व्यापार की पाँच कार्यावस्थाओं का उल्लेख किया गया है तथापि नाट्यशास्त्र आदि में इतिवृत्त के सन्दर्भ में ही अर्थ, प्रकृतियों तथा कार्यावस्थाओं का उल्लेख किया गया है तथापि ये उसी फल की सिद्धि के उपाय होते है। कार्यावस्थाओं का साक्षात् सम्बन्ध नायक के व्यापार के साथ है। इन दोनों का इतिवृत्त के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं, किन्तु परम्परया सम्बन्ध तो है। इसीलिये भारतीय नाट्यशास्त्र में इन दोनों के आधार पर इतिवृत्त का पाँच भागों में विभाजन किया जाता है, जिसे पंचसन्धि के नाम से कहा जाता है'' (ना.शा.19.1) । इस प्रकार अर्थप्रकृति, कार्यावस्था तथा सन्धि का भेद स्पष्ट है। अर्थप्रकृति फल-सिद्धि के उपाय । कार्यावस्था फल को लक्ष्य किये गये व्यापार की अवस्थाएँ । सन्धि =अर्थप्रकृति और कार्यावस्थाओं के आधार पर किये गये इतिवृत्त के विभाग।

16.5 पञ्चसन्धि

सन्धि शब्द का अर्थ है-सन्धान, मिश्रण, ठीक ढंग से मिलाना। सन्धि का लक्षण करते हुए आचार्य धनंजय ने कहा है-''अन्तरैकार्थसम्बन्धःसन्धिरेकान्वये सति।'' एक प्रयोजन से अन्वित होने पर किसी एक अवान्तर प्रयोजन के साथ सम्बन्ध होना ही सन्धि कहलाता है। पाँच अवस्थाओं से समन्वित होकर पाँच अर्थप्रकृतियाँ ही क्रम से मुख इत्यादि पाँच सन्धियाँ बन जाती है-अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः। यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च सन्धयः।। सन्धियाँ पाँच है- मुख, प्रतिमुख, गर्भ, साविमर्श और उपसंह्वति। इनके रचनात्मक स्वरूप को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है-

अर्थप्रकृतियाँ			अवस्थाएँ		सन्धियाँ
1.	बीज	+	प्रारम्भ	=	मुखसन्धि
2.	बिन्दु	+	प्रयत्न	=	प्रतिमुख सन्धि
3.	पताका	+	प्राप्त्याशा	=	गर्भ सन्धि
4.	प्रकरी	+	नियताप्ति	=	अवमर्श
5.	कार्य	+	फलागम	=	उपसंह्वति

1. मुखसन्धि- ''मुखं बीजसमुत्पत्तिनार्थसम्भवा। अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात्।।'' जहाँ बीजों की उत्पत्ति होती है और जो अनेक प्रकार के प्रयोजन तथा रस की निष्पत्ति का निमित्त होती है, वह मुख सन्धि है। बीज औश्र आरम्भ के समन्वय से इसके बारह अंग हो जाते है-1. उपक्षेप, 2. परिकर, 3. परिन्यास, 4. विलोभन, 5. युक्ति, 6. प्राप्ति, 7. समाधान, 8. विधान, 9. परिभावना, 10. उद्भेद, 11. भेद और 12. करण -

उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम्।
युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना।
उद्भेदभेदकरणान्यन्वर्थान्यथ लक्षणम्।।

बीज का शब्दों में रखना उपक्षेप है। उसकी वृद्धि परिकर है। उसकी सिद्धि परिन्यास कहलाता है। गुणों का वर्णन विलोभन कहलाता है। युक्ति प्रयोजनों का निर्णय करना है। बीज के सम्बन्ध से सुख का प्राप्त होना प्राप्ति है। बीज का आगमन समाधान है। सुख और दुख- दोनों को उत्पन्न करने वाला विधान कहलाता है। अद्भुत भाव का समावेश होना परिभावना है। बीज के अनुकूल किसी गूढ़ बात को प्रकट करना उद्भेद कहलाता है। प्रोत्साहन को भेद माना गया है और प्रस्तुत कार्य का आरम्भ करना करण कहलाता है। मुख सन्धि के ये बारह अंग बीज नामक अर्थप्रकृति और आरम्भ नामक कार्यावस्था के सूचक होते है। इनका रूपक में साक्षात् रूप से था । परम्परा से विधान किया जाता है। इनमें से उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, युक्ति, उद्भेद और समाधान का होना प्रत्येक रूपक में आवश्यक है।

2. प्रतिमुख सन्धि- लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत्। बिन्दुप्रयत्नानुगमादङ्गान्यस्यः त्रयोदश।। मुखसन्धि में निर्दिष्ट बीज का कुछ लक्ष्य रूप में और कुछ अलक्ष्य रूप में उदभेद अर्थात् प्रकट होना प्रतिमुख सन्धि है। जैसे रत्नावली नाटिका के द्वितीय अंक में- जो वत्सराज और सागरिका के मिलन का हेतु अनुराग रूपी बीज है, उसका प्रथम अंक में उपक्षेप किया गया है। द्वितीय अंक में सुसंगता और विदूषक के द्वारा वह जान लिया गया है। अतः कुछ-कुछ लक्ष्य है और वासवदत्ता के द्वारा चित्रफलक की घटना द्वारा वह कुछ-कुछ समझा भर गया है अतः अलक्ष्य है। इस प्रकार यहाँ अनुराग रूपी बीज कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य में प्रकट होता है तथा प्रतिमुख सन्धि है।

प्रथम अंक में जो रखा गया है तथा अग्रिम अंक में बिन्दु रूप में आया है, उस बीज तथा प्रयत्न नामक कार्यावस्था के आधार पर इस प्रतिमुख सन्धि के तेरह अंग होते है- 1. विलास, 2. परिसर्प, 3. विधुत, 4. शम, 5. नर्म, 6. नर्मद्युति, 7. प्रगमन, 8. निरोध, 9. पर्युपासन, 10. वज्र 11. पुष्प, 12. उपन्यास तथा 13. वर्णसंहार-

विलासः परिसर्पश्च विधूतं शमनर्ममणी।
नर्मद्युतिः प्रगमनं निरोधः पर्युपासनम्।।

वज्रम पुष्पमुपन्यासोवर्णसंहारइत्यपि।

रति के लिये जो इच्छा होती है, वह विलास कहलाती है। पहले देखे गये और फिर नष्ट हुए बीज का अन्वेषण परिसर्प कहलाता है। सुखप्रद पदार्थो के प्रति अरूचि विधूत कहलाता है। रति की शान्ति शम कहलाती है। परिहास युक्त वचन नर्म कहलाता है। उस नर्म से उत्पन्न धृति नर्मद्युति मानी गई है। बीज के सम्बन्ध में उत्तरोत्तर वचन प्रगमन है। हित का रूक जाना निरोधन कहलाता है। क्रुद्ध व्यक्ति को मनाना पर्युपासन कहलाता है। प्रत्यक्ष रूप में निष्ठुर कथन वज्र कहलाता है। बीजोद्घाटन के सम्बन्ध में विशेषणायुक्त कथन को पुष्प कहा जाता है। उपायसहित कथन उपन्यास है। ब्राह्मण आदि चारों वर्णो का एकत्रित होना ही वर्णसंहार कहलाता है। इनमें परिसर्प, प्रशम, वज्र, उपन्यास, और पुष्प- ये अंग प्रधान है। इनको रूपकों में स्थान देना आवश्यक है। अन्यों का यथासंभव प्रयोग किया जाता है।

3. **गर्भसन्धि-** ''गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः। द्वादशांङ्क पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसम्भवः।।।'' प्रतिमुख सन्धि में जो बीज कुछ लक्ष्य में तथा कुछ अलक्ष्य रूप में प्रकट होता है, उसका विशेष प्रकार से प्रकट होना-विघ्नों के साथ प्रकट होना, फिर नष्ट हो जाना, फिर प्राप्त होना तथा फिर नष्ट हो जाना और फिर उसका ही बार-बार अन्वेषण किया जाना गर्भसन्धि कहलाती है, इसमें फलप्राप्ति की आशा का एकान्ततः निश्चय नहीं होता। इसमें पताका नामक अर्थप्रकृति कहीं होती है, कहीं नहीं भी होती, किन्तु प्राप्त्याशा नाम की कार्यावस्था होती है।

गर्भसन्धि का उदाहरण है-रत्नावली के तृतीय अंक में पहले तो विदूषक के उस वचन द्वारा सागरिका की प्राप्ति की आशा होती है, जिसमें वासवदत्ता के रूप में विघ्न कहा गया है और वासवदत्ता का वेष धारण करके सागरिका के अभिसरण को उपाय कहा गया है, फिर वासवदत्ता की उपस्थिति से आशा-भंग हो जाती है। इसी प्रकार फिर प्राप्ति और फिर विघ्न होता है और तब विघ्न को दूर करने का उपाय खोजा जाता है, जो कि 'देवी वासवदत्ता को प्रसन्न करने के अतिरिक्त सागरिका से मिलन का कोई और उपाय नहीं है' इस कथन के द्वारा दिखलाया गया है। गर्भसन्धि के बारह अंक होते है। क्रमशः उनके नाम है- 1. अभूताहरण, 2. मार्ग, 3. रूप, 4. उदाहरण, 5. क्रम, 6. संग्रह, 7. अनुमान, 8. तोटक, 9. अधिबल, 10. उद्वेग, 11. संभ्रम और 12. आक्षेप।

अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः।
संग्रहश्चानुमानंच तोटकाधिबले तथा।।
उद्वेगसंभ्रमाक्षेपा लक्षणं च प्रणीयते।

प्रकृति विषय से सम्बद्ध छलपूर्ण कार्य अभूताहरण कहलाता है। प्रकृत विषय के सम्बन्ध में यथार्थ बाल का कथन मार्ग कहलाता है। प्राप्ति की आशा में विर्तक से युक्त कथन को रूप कहते है। प्राप्त्याशा से सम्बद्ध उत्कर्षयुक्त कथन उदाह्यति कहलाता है। सोची हुई वस्तु की प्राप्ति क्रम कहलाता है। अन्य आचार्य भाव-ज्ञान को क्रम कहते है। प्राप्त्याशा से सम्बद्ध साथ और दान से युक्त संग्रह कहलाता है। किसी चिन्ह से किसी बात का निश्चय करना अनुमान है। वंचना अधिबल है। आवेगपूर्ण वचन तोटक कहलाता है। शत्रु से उत्पन्न भव उद्वेग कहलाता है। शंका और त्रास को सम्भ्रम कहा जाता है। गर्भ के बीज का प्रकटन आक्षेप कहा गया है।

इन अंगों में अभूताहरण, माग्र, तोटक, अधिबल और आक्षेप-ये मुख्य है। अन्य अंगों का यथासंभव प्रयोग किया जाता है।

5. **विमर्श सन्धि-** ''क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात्। गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः।।'' विमर्श शब्द का अर्थ है-ऊहा-पोह करना, पर्यालोचन। वह पर्यालोचन क्रोध से अथवा व्यसन या विलोभन आदि कारणों से होता है । जहाँ ''यह फल होना चाहिए, इस प्रकार अवश्यंभावी फल-प्राप्ति का निश्चय कर लिया जाता है और जिसमें गर्भसन्धि से प्रकाशित बीज रूपी अर्थ का सम्बन्ध दिखलाया जाता है वह पर्यालोचन ही विमर्श या अवमर्श सन्धि है। जैसे रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अंक में अग्नि के उपद्रव पर्यन्त वासवदत्ता की प्रसन्नता से विघ्न रहित रत्नावली की प्राप्ति का निश्चय रूप विमर्श दिखलाया गया है।

अवमर्श सन्धि के तेरह अंग है। उनके नाम है- 1. अपवाद, 2. विद्रव, 3. द्रव, 4. शक्ति , 6. द्युति, 7. प्रसंग, 8. छलन, 9. व्यवसाय, 10. विरोधन, 11. प्ररोचना, 12. विचलन, और आदान-

तत्रापवादसंफेटौ विद्रवद्रशक्तयः।
द्युतिः प्रसंडश्छलनं व्यवसायो विरोधनम्।।
प्ररोचना विचलनमादानं च त्रयोदश।।

किसी पात्र के दोषों का कथन अपवाद कहलाता है। बीज से अन्वित रोषयुक्त कथनोपकथन संफेट है। वध, बन्धन आदि का वर्णन विद्रव कहलाता है। गुरूजनों का तिरस्कार द्रव कहलाता है। विरोध का शान्त हो जाना शक्ति कहा जाता है। तर्जन और उद्वेजन का वर्णन द्युति है। गुरूजनों का कीर्तन प्रसंग है। अवहेलना करने को छलन कहा जाता है। अपनी शक्ति का वर्णन करना व्यवसाय कहलाता है। आवेगपूर्ण पात्रों का अपनी शक्ति का वर्णन करना विरोधन कहलाता है। यह सिद्ध ही है- इस प्रकार के कथन से भावी अर्थ का दर्शन करने वाली प्ररोचना कहलाती है। आत्मश्लाघा करना विचलन है। कार्यसंग्रह आदान कहलाता है। इनमे अपवाद, शक्ति, व्यवसाय, प्ररोचना और आदान मुख्य है ।

6. **निर्वहण सन्धि-** ''बीजवन्तो मुखाद्यार्था विप्रकीर्णा यथायथम् ऐकाथ्र्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्।'' जहा बीज से सम्बन्ध रखने वाले मुख सन्धि आदि में अपने स्थान पर बिखरे हुए प्रारम्भ आदि अर्थो का एक मुख्य प्रयोजन के साथ सम्बन्ध दिखलाया जाता है, वह निर्वहण सन्धि कहलाती है। जैसे-रत्नावली नाटिका में सागरिका, रत्नावली, वसुभूति और बाभ्रव्य आदि के कार्यो का, जो मुख सन्धि आदि में बिखरे पड़े है, वत्सराज के ही एक कार्य रत्नावली-समागम के लिये समाहार होता है। जो सागरिका को देखकर वसुभूति के इस कथन द्वारा दिखलाया गया है कि बाभ्रव्य, यह तो बिल्कुल राजपुत्री रत्नावली के जैसी है।

निर्वहण सन्धि के 14 अंग है - 1. सन्धि, 2. विबोध, 3. ग्रथन, 4. निर्णय 5. परिभाषण 6. प्रसाद 7. आनन्द 8. समय, 9. कृति, 10 भाषा 11. उपगृहन, 12. पूर्वभाव, 13. उपसंहार, और 14. प्रशस्ति।

सन्धिर्विबोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम्।
प्रसादानन्दसमयाः कृतिभाषोपगृहनाः।
पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्तिश्च चतुदर्श।।

बीज का फलागम से अन्वित करके सन्धान सन्धि कहलाती है। कार्य के अन्वेषण को विबोध कहा जाता है। फल के उपक्षेप को ग्रथन कहा जाता है। अनुभूत अर्थ का कथन निर्णय कहलाता है। आपस की बातचीत को परिभाषा या परिभाषण कहा जाता है। आराधना ही प्रसाद है। अभीष्ट की प्राप्ति होना आनन्द कहलाता है। दुख का दूर हो जाना ही समय है। लब्ध अर्थ का शमन कृति है। मान आदि की प्राप्ति भाषण है। कार्य को बिना कहे समझ लेना पूर्णभाव कहलाता है तथा अद्भूत अर्थ की प्राप्ति उपगूहन है। वरदान की प्राप्ति काव्यसंहार कहलाता है। शुभ अर्थ का कथन प्रशस्ति है।

इस प्रकार धनंजय ने कथावस्तुओं की स्थितियों के अनुसार उसे पाँच अर्थप्रकृतियों, पाँच अवस्थाओं , और पाँच सन्धियों सन्धयंगों में विभक्त किया है।

16.6 अर्थोपक्षेपक

रंगमंच की दृष्टि से समस्त कथा-सूत्र को दृश्य और सूच्य दो भागों में बाँटा जा सकता है। दृश्य कथासूत्र रंगमंच पर दिखलाये जाते है तथा पात्रों द्वारा उनका रंगमंच पर अभिनय किया जाता है, परन्तु सूच्य कथासूत्रों की पात्रों के संवाद द्वारा सूचना मात्र दे दी जाती है। ये सूचना देने वाले पात्र प्रायः अप्रधान हुआ करते है । कभी-कभी यह सूचना नेपथ्य से भी दी जाती है। इन कथासूत्रों के सूचना प्रकार को धनंजय ने अर्थोपक्षेपक कहा है, क्योंकि ये सूच्य अर्थ को आक्षिप्त करते है।

अर्थोपक्षेपक पाँच प्रकार के होते है - 1. विष्कम्भक 2. प्रवेशक 3. चूलिका 4. अंकारस्य तथा अंकावतार। इनमें विष्कम्भक और प्रवेशक ही नाटकों प्रायः देखा जाता है।

धनजय पे पताकास्थान नामक कथावस्तु के अंग को भी स्वीकार किया है। जब नाटक कभी संवाद या घटना में कुछ ऐसी रचना करता है, जिससे भावी वस्तु या घटना की सूचना मिल जाती है, उसे पताकास्थान कहते है। इसके दो भेद माने है- 1. अन्योक्ति रूप तथा 2. समासोक्ति रूप । अन्योक्ति रूप पताकास्थान में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों का इतिवृत्त एक जैसा होता है, इसे तुल्योतिवृत्त भी कहते है। समासोक्ति रूप पताकास्थान में प्रस्तुत पक्ष तथा अप्रस्तुत पक्ष में विशेषणों की समानता होती है,वे तुल्य विशेषण होते है।

धनंजय ने पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियों की भांति संवाद को अलग तत्व या नाट्यांग न मानकर उसे कथावस्तु का ही एक अंग स्वीकार कर उसके भी प्रकाश, स्वगत, अपवारित, जनान्तिक और आकाशभषित आदि भेद किये है। जब पात्र सबको सुनाकर संवाद करता है तो वह प्रकाश है। जब किसी अन्य को न सुनाकर स्वतः कहता है, जिसे सामाजिक तो सुनते है परन्तु मंचस्थ अन्य पात्र नहीं, तो वह स्वगत होता है। अपवारित में पात्र किसी एक या दो पात्र को सुनने से मनाकर अन्य पात्रों को सुनाकर भाषण करता है। जनान्तिक में दो पात्र आपस में गुप्त मंत्रणा करते है। सामाजिक इन सभी प्रकार के संवादों को सुनता है। कभी नाटक में नेपथ्य से अदृश्य भाषण या आकाश-भाषित का भी प्रयोग होता है।

16.7 नेता

रूपक का दूसरा भेदक नेता है। सर्वप्रथम नेता अर्थात् कथा नायक के सामान्य गुणों को बताते हुए उसे विनम्रतादि गुणों से युक्त कहा गया है -

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियम्वदः।

रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा।।

बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः।

शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षु श्च धार्मिकः।।

कथा नायक को विनम्र, मधुर अर्थात् देखने में प्रिय, सब कुछ त्याग कर देने वाला, क्षिप्रकारी, प्रिय बोलने वाला लोकप्रिय, मन की निर्मलता से युक्त, वाक्पटु, उच्चकुलीन अचचंल, युवा, बुद्धि-उत्साह-स्मृति-प्रज्ञा-कला तथा मान से युक्त, दृढ़ तेजस्वी, शास्त्रज्ञ तथा धार्मिक होना चाहिये। नेता शब्द के साथ नाटक के नायक का सारा परिकर-नायिका, नायक की सखियाँ आदि, प्रतिनायक और उसके साथी, ये सभी नेता के अंग माने गये है। नाटकादि में मुख्य नायक ही होता है। इन सामान्य गुणों से युक्त नायक के चार प्रमुख भेद रूपकों में पाये जाते हैं -भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम्। (दशरूपक 2/3) ।नायक की प्रकृति के आधार पर नायक के धीरोदात्त, धीर-ललित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत, ये चार प्रकार के भेद किये गये है। क्रमशः इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

क. धीरोदात्त- धीरोदात्त प्रकृति का नायक प्रायः राजा या राजकुलोत्पन्न होता है। वह निरभिमानी , अत्यन्त गंभीर, स्थिर चित्त तथा अविकत्थन होता है। वह जो संकल्प या व्रत लेता है, उसे छोड़ता नहीं। यह आदर्श नायक के सभी गुणों से पूर्ण होता है। नाटक का नायक इसी प्रकृति का चुना जाता है।

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढ़व्रतः।।

महासत्व अर्थात् शोक, क्रोधादि से विचलित न होने वाला अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, आत्मश्लाघा से परे रहने वाला स्थिर, अहंभाव को दबाकर रखने वाला, दृढ़व्रती नायक धीरोदात्त श्रेणी का होता है। 'रामचरित' का राम तथा 'शकुन्तल' का दुष्यन्त इसी प्रकृति का धीरोदात्त नायक माना गया है।

ख. धीरललित-

निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः। धीरललित नेता राजपाट सा दूसरी चिन्ताओं से मुक्त, संगीत, नृतय, चित्र, आदि कला का प्रेमी और रसिक वृत्ति का होता है। वह प्रेम का उपासक और सदा भोग-विलास में लिप्त रहने वाला होता है। इसकी अनेक पत्नियाँ होती है। धीरललित नायक अधिकतर राजा ही होता है। उसका राज्यकार्य मंत्री आदि संभाले रहते है, अपने प्रेम-व्यापार में वह सदा अपनी महादेवी (महारानी) से डरा हुआ, शंकित होकर प्रवृत्त होता है। भास का वत्सराज उदयन ऐसा ही धीरललित नायक है। हर्षवर्द्धन की प्रियदर्शिका तथा रत्नावली का नायक भी इन सब गुणों से युक्त है।

ग. धीरप्रशान्त-

सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः। विनयादि सामान्य गुणों से युक्त ब्राह्मण वणिक या मंत्री आदि धीरशान्त कोटि के नायक होते हैं। धीरप्रशान्त प्रकृति का नायक धीरललित से सर्वथा भिन्न होता है। वह शान्त प्रकृति का ब्राह्मण या वैश्यकुलोत्पन्न होता है। वह कलाप्रिय भी होता है। प्रकरण नामक रूपक भेद का नायक धीरप्रशान्त ही होता है। ''कुछ लोगो ने युद्धिष्ठर (वेणीसंहार), बुद्ध या जीमूतवाहन को भी धीरप्रशान्त नायक कहा है, परन्तु धनिक ने उन्हें धीरोदात्त नायक ही माना है।

घ. धीरोद्धत- धीरोद्धत नायक घमण्डी, ईर्ष्यालु, विकत्थन तथा छली होता है। यहीं कारण है कि वह उद्धत कहा जाता है। परशुराम या भीमसेन इसी कोटि के नायक है-

दम्भमात्सर्य-भूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः।

धीरोद्धतस्त्वहंकारी चलश्चण्डो विकत्थनः।

नायक का एक वर्गीकरण उसके प्रेम-व्यापार या तत्सम्बन्धी व्यवहार के अनुरूप भी किया है। उसके अनुसार दक्षिण, शठ, धृष्ट तथा अनुकूल ये चार श्रेणियाँ है। ये रूप अपनी परिणीता पत्नी के प्रति किये गये उसके व्यवहार में पाये जाते है। दक्षिण नायक एक से अधिक नायिकाओं से एक समान प्यार करता है। शठ नायक अपनी ज्येष्ठा नायिका के साथ बुरा बर्ताव तो नहीं करता, परन्तु उससे छिप छिपकर दूसरी नायिका से प्रेम करता है। धृष्ट नायक धोखेबाज होता है। ज्येष्ठा नायिकार की परवाह किये बिना ही कनिष्ठा नायिका से प्रेम करता है। अनुकूल नायक सदा एक नायिका के प्रति आसक्त होता है। उत्तरामचरित के नायक रामचन्द्र अनुकूल नायक के उदाहरण है।

नायक के सहायक - पीठमर्द, विट, विदूषक एवं प्रतिनायकादि सहायक भी रूपक में नायक के साथ होते हैं। पताकानायक उस प्रधान नायक का अनुचर एवं भक्त होता है, चतुर लेकिन उससे गुणों में कुछ न्यून होता है जैसे रामायण में सुग्रीव। विट संगीतादि किसी एक विद्या को जानने वाला होता है। विदूषक हास्य उत्पन्न करने वाला नायक का सहयोगी होता है। प्रतिनायक लोभी, धीरोद्धत, कठोर, दुराग्रही, पापी एवं व्यवसकी नायक का शत्रु होता है। जैसे रावण, दुर्योधनादि। नायक में शोभा, विलास, माधुर्य, गम्भीरता, स्थिरता, तेजस्, ललित तथा औद्रार्य, ये आठ सात्विक गुण पाये जाते हैं।

नायिका- नाटकादि में नायक जितना महत्व नायिका का भी होता है। नाटिका तो नायिका प्रधान होती ही है। नायिका का वर्गीकरण तीन आधारों पर किया जाता है। स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा।

नायिका भी नायक के ही सामान्य गुणों से युक्त होती है तथा वह स्वकीया, परकीया और साधारणस्त्री के भेद से तीन प्रकार की होती है।

स्वकीया - विनयार्जवादियुक्ता गृहकर्मपरा पतिव्रता स्वीया।

(सा.द. 3/57)

विनम्रता, सरलतादि गुणों से युक्त, गृहकार्य में संलग्न पतिव्रता स्त्री स्वकीया नायिका कहलाती है। यह स्वकीया भी मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा भेदों से तीन प्रकार की होती है।

मुग्धा - मुग्धा नववयः कामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि।

(दशरूपक 2/16)

जो अवस्था एवं कामभावना में नवीन होती है, रतिक्रीड़ा से अनभिज्ञ होती है एवं क्रोध करने में कोमल होती है वह मुग्धा नायिका होती है जैसे शाकुन्तलम् की शकुन्तला। साहित्यदप्रण में विश्वनाथ ने मुग्धा के पाँच भेद बताये हैं और उनके उदाहरण भी दिये हैं।

मध्या - मध्योद्यद्यौवनानङ्गामोहान्तसुरतक्षमा।

(दशरूपक 2/16)

जिसमें यौवन और काम का उदय हो रहा है, जो बेसुधी अवस्थापर्यन्त रति में समर्थ है, वह मध्या नायिका है विश्वनाथ ने मध्या के भी पाँच भेद किये हैं।

प्रगल्भा - यौवनान्धा स्मरोन्मत्ता प्रगल्भा दयिताङ्गके।
विलीयमानेवानन्दाद्रतारम्भेऽप्यचेतना।।

जो यौवन में अंधी सी, काम से उन्मत्त सी, आनन्द के कारण प्रियतम के अंगों में प्रविष्ट होती हुई सी सुरत के प्रारम्भ में भी आचेत हो जाती है वह प्रगल्भा नायिका है। विश्वनाथ ने इसके भी छः भेद और उनके उदाहरण दिये हैं।

स्वकीया में मुग्धा का एक ही भेद माना गया है जबकि मध्या एवं प्रगल्भा के धीरा, अधीरा और धीराधीरा ये तीन-तीन भेद एवं ज्येष्ठ, कनिष्ठा के भेद से 6-6 भेद हो जाते हैं। इस प्रकार स्वकीया के कुल 13 भेद होते हैं -

परकीया - **अन्यस्त्री कन्यकोढा चनान्योढाऽङ्गिरसे क्वचित्।**
कन्यानुरागनिच्छातः कुर्यादङ्गाङ्गिसंश्रयम्।।

(दश. 2/20)

परकीया दो प्रकार की होती है - कन्या तथा विवाहिता। विवाहिता स्त्री को कभी भी प्रधान रस की नायिका नहीं बनाना चाहिये। कन्या को अंगी व अंग दोनों रस का आलम्बन बनाया जा सकता है।

साधारण स्त्री -

साधारणस्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्यधौर्त्ययुक्।

(दश. 2/21)

कला, प्रगल्भता एवं धूर्तता से युक्त गणिका को साधारणस्त्री कहते हैं। जैसे मृच्छकटिक की वसन्तसेना। जिस रूपक में राजा या दिव्य पुरुष नायक हो उसमें नायिका साधारणस्त्री नहीं होनी चाहिये। प्रहसन को छोड़कर अन्य प्रकरणादि में गणिका को नायक में अनुरक्त दिखाना चाहिये। इन नायिकाओं की स्वाधीनपतिका आदि आठ अवस्थाएं एवं हाव-भावादि बीस सात्विक अलंकार होते हैं। दूसरा आधार अवस्था का है। इसके अनुसार 1. मुग्धा, 2. मध्या, और 3. प्रौढ़ा ये तीन भेद होते है। तीसरा आधार उसकी दशा है। इसके अनुसार नायिका आठ प्रकार की होती है- 1. स्वाधीनपतिका, 2. वासकसज्जा, 3. विरहोत्कण्ठिता, 4. खण्डिता, 5. कलहान्तरिता, 6. विप्रलब्धा, 7. प्रोषितपतिका तथा 8. अभिसारिका।

16.8 रस

नाटक का तीसरा भेदक रस कहलाता है । जब रूपक में वर्णित अथवा अभिनय द्वारा प्रदर्शित विभाव, अनुभाव, व्यभिचारि भाव तथा सात्त्विक भावों के द्वारा रत्यादि स्थायी भावों को आस्वाद्यमान अर्थात् आनन्दानुभूति के योग्य बना दिया जाता है तो उसे रस कहते हैं। यह रसास्वादन दर्शक या सामाजिक को होता है, क्योंकि रस चेतन का धर्म है।

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः।।

(दश. 4/1)

रसास्वादन का हेतु होने से 'आयुर्घृतम्' के समान काव्य को भी सरस या रसवत् कहा जाता है। आनन्दानुभूति ही रस है, जिसमें करुण, वीभत्सादि दुःखमय रस भी आते हैं क्योंकि वे भी सहृदय के हृदय को आनन्दित ही करते हैं। यदि ये रस दुःखमय होते तो करुण रसादि प्रधान काव्य या नाटक में कोई प्रवृत्त ही नहीं होता और रामायणादि करुणरस प्रधान ग्रन्थ भी दुःख के हेतु हो जाते। पुत्रादि वियोग, वनवासादि जो लोक में दुःख का कारण होते हैं वे ही काव्य से सम्बन्ध होने पर अलौकिक विभाव कहलाते हैं। विभावन नामक अलौकिक व्यापार के कारण वे सुख के जनक हो जाते हैं। रसास्वादन में सामाजिक की इस जन्म एवं पूर्व जन्म की वासना मिलकर कारण होती है।

न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम्।
वासना चेदानीन्तनी प्राक्तनी च रसास्वादहेतुः।।

(सा.द. 3/9)

विभाव -

ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत्।
आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा।।

(दश. 4/2)

कवि के द्वारा वर्णित दुष्यन्त शकुन्तलादि जो विशिष्ट रूप वाले हो जाने के कारण आलम्बन रूप में या उद्दीपन रूप में जाने जाते हैं अतः विभाव कहलाते हैं।

अनुभाव - अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः।

(दश. 4/3)

दर्शकों को रत्यादि स्थायीभावों को अनुभव कराने वाले भ्रूविक्षेप, कटाक्षादि शारीरिक विकार अनुभाव कहलाते हैं। ये भाव के पश्चात् उत्पन्न होते हैं -

अनु पश्चाद् भवन्ति इति अनुभावाः अथवा

सामाजिकान् स्थायीभावान-अनुभावयन्ति इति -जो सामाजिकों को स्थायी भाव का अनुभव कराते हैं।

सात्त्विक भाव -

पृथग्भावा भवन्त्यन्येघ्नुभावत्वेऽपि सात्त्विकाः।

(दश. 4/4)

अन्य जो सात्विक भाव हैं वे भी अनुभाव ही हैं किंतु सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण भिन्न हैं। सत्त्व का अर्थ है किसी भाव से भावित होना। ये अश्रु रोमांचादि भी अनुभावों के समान हृदय में स्थित हर्ष, शोकादि भावों के विकार एवं उनके सूचक होते हैं। सात्विक भाव आठ हैं - स्तम्भ, प्रलय, रोमांच, स्वेद, वैवर्ण्य, वेपथु, अश्रु तथा वैस्वर्य।

व्याभिचारि भाव - विविध प्रकार से स्थायीभाव के अनुकूल चलने वाले और सागर की उसी में तरंगों के समान प्रकट एवं विलीन होने वाले भाव व्यभिचारिभाव कहलाते हैं।

विशेषादाभिमुख्येन चरन्तीति व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिमग्नाः कल्लोला इव वारिधौ।।

(दश. 4/7)

व्यभिचारिभाव 33 हैं - निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, श्रम, धृति, जड़ता, हर्ष, दैन्य, उग्रता, चिन्ता, त्रास, ईर्ष्या, अमर्ष, गर्व, स्मृति, मरण, मद, सुप्त, निद्रा, विबोध, व्रीडा, अपस्मार, मोह, सुमति, अलसंता, वेग, तर्क, अवहिंत्था, व्याधि, उन्माद, विषाद, औत्सुक्य तथा चपलता।

स्थायीभाव -

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः।।

(दश. 4/34)

रत्यादि स्थायी भाव वे हैं जो अपने विरुद्ध या अनुकूल किसी प्रकार के भावों से विच्छिन्न नहीं होते और समुद्र के समान उन्हें अपने में आत्मसात कर लेते हैं। यही भाव परिपुष्ट होकर रसरूपता को प्राप्त होते हैं।

स्थायीभाव आठ हैं - रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह,भय ,जुगुप्सा, विस्मय । कुछ लोग शम को भी नवम स्थायी भाव मानते हैं। किन्तु रूपकों में उसकी पुष्टि नहीं होती।

रत्युत्साहजुगुप्साःक्रोधो हृसः स्मयो भयं शोकः।
शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।।

(दश. 4/35)

नाट्यशास्त्र में भी आठ स्थायी भावों का ही वर्णन है। इन्हीं आठ स्थायी भावों के श्रृंगार, वीर, वीभत्स, रौद्र, हास्य, अद्भुत, भयानक एवं करुण ये आठ रस रूपकों में पाये जाते हैं।

16.9 पारिभाषिक शब्दावली

नाट्य - आचार्य धनञ्जय के अनुसार अवस्था का अनुकरण नाट्य कहलाता है-
''अवस्थानुकृतिर्नाट्यं।'' नाट्य के दस भेद माने है- *1.* नाटक, *2.* प्रकरण, *3.* भाण्, *4.* प्रहसन, *5.* डिम, *6.* व्यायोग, *7.* समवकार, *8.* वीथी, *9.* अंक और *10.* ईहामृग।

रूपक- यह नाट्य दृश्य होने के कारण 'रूप' कहलाता है और आरोप किया जाने के कारण 'रूपक' कहलाता है-'रूपं दृश्यतयोच्चते। 'रूपकं तत्समारोपात्।'

वस्तु - रूपकों या नाटकों का पहला भेदक वस्तु है। इसे ही कथावस्तु, इतिवृत्त आदि नामों से पुकारा जाता है। कथावस्तु के मुख्य भेद के आधार पर कथावस्तु दो प्रकार की होती है- एक आधिकारिक, दूसरी प्रासंगिक

पताका - जो प्रासंगिक वृत्त के साथ दूर तक चलता है। वह पताका कहलाता है। जैसे सुग्रीव आदि का वृतान्त, जो रामकथा के साथ दूर तक चलता है। जिस प्रकार पताका-ध्वजा नायक का असाधारण चिन्ह होती है और उसका उपकार कहते है।

प्रकरी -जो प्रासंगिक वृत्त थोड़ी दूर तक चलता है, वह प्रकरी कहलाता है । जैसे रामायणादि में श्रवणा (शबरी) आदि का वृतान्त है।

अर्थप्रकृति- अर्थ शब्द फल या प्रयोजन का वाचक है। प्रकृति शब्द का अर्थ है- हेतु या कारण । इस प्रकार फल की सिद्धि के उपाय ही अर्थप्रकृतियाँ कहलाती है। अर्थप्रकृतियाँ पाँच है- बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य

कार्यावस्था - फल की इच्छा वाले व्यक्ति द्वारा आरम्भ किये गये कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती है- *1.* आरम्भ, *2.* यत्न, *3.* प्राप्त्याशा, *4.* नियताप्ति, *5.* फलागम।

पंचसन्धि- सन्धि शब्द का अर्थ है-सन्धान, मिश्रण, ठीक ढंग से मिलाना। सन्धि का लक्षण करते हुए आचार्य धनंजय ने कहा है-''अन्तरैकार्थसम्बन्धःसन्धिरेकान्वये सति।एक '' प्रयोजन से अन्वित होने पर किसी एक अवान्तर प्रयोजन के साथ सम्बन्ध होना ही सन्धि कहलाता है। सन्धियाँ पाँच है- मुख, प्रतिमुख, गर्भ, साविमर्श और उपसंहृति।

गर्भसन्धि-''गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः। द्वादशांङ्कपताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसम्भवः।।'' प्रतिमुख सन्धि में जो बीज कुछ लक्ष्य में तथा कुछ अलक्ष्य रूप में प्रकट होता है, उसका विशेष प्रकार से प्रकट होना-विघ्नों के साथ प्रकट होना, फिर नष्ट हो जाना, फिर प्राप्त

होना तथा फिर नष्ट हो जाना और फिर उसका ही बार-बार अन्वेषण किया जाना गर्भसन्धि कहलाती है, इसमें फलप्राप्ति की आशा का एकान्ततः निश्चय नहीं होता।

अर्थोपक्षेपक - सूच्य कथासूत्रों की पात्रों के संवाद द्वारा सूचना मात्र दे दी जाती है। ये सूचना देने वाले पात्र प्रायः अप्रधान हुआ करते है। कभी-कभी यह सूचना नेपथ्य से भी दी जाती है। इन कथासूत्रों के सूचना प्रकार को धनंजय ने अर्थोपक्षेपक कहा है, क्योंकि ये सूच्य अर्थ को आक्षिप्त करते है। अर्थोपक्षेपक पाँच प्रकार के होते है - *1.* विष्कम्भक *2.* प्रवेशक *3.* चूलिका *4.* अंकारस्य तथा अंकावतार।

नेता - रूपक का दूसरा भेदक नेता है। नायक के सहायक - पीठमर्द, विट, विदूषक एवं प्रतिनायकादि सहायक भी रूपक में नायक के साथ होते हैं।

रस - नाटक का तीसरा भेदक रस कहलाता है। जब रूपक में वर्णित अथवा अभिनय द्वारा प्रदर्शित विभाव, अनुभाव, व्यभिचारि भाव तथा सात्त्विक भावों के द्वारा रत्यादि स्थायी भावों को आस्वाद्यमान अर्थात् आनन्दानुभूति के योग्य बना दिया जाता है तो उसे रस कहते हैं।

16.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

(I) अति-लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. नाटक किसे कहते है ?
2. नाटक को रूपक क्यों कहते है ?
3. पताका एवं प्रकरी में क्या अन्तर है ?
4. गर्भ सन्धि किसे कहते है ?

(II) लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. अर्थप्रकृति किसे कहते है ? विवेचन किजिए ?
2. अर्थोपक्षेपक से क्या आशय है ? स्पष्ठ किजिए ?
3. कार्यावस्था के विभिन्न प्रकारों को स्पष्ठ किजिए ?
4. नेता के कौन कौन से गुण होते है ? धीरललित नायक का वर्णन किजिए ?

(III) निबन्धात्मक प्रश्न –

1. वस्तु किसे कहते है ? वस्तु के विविध प्रकारों का वर्णन किजिए ?
2. नेता एवं रस का नाटक में क्या महत्त्व है ? सविस्तार वर्णन किजिए ?

16.11 सारांश

इस प्रकार इस इकाई में सर्वप्रथम हमने अध्ययन किया कि क्यों नाटक को नाट्य, रूप तथा रूपक आदि से अभिहित किया जाता है। इसके पश्चात कथावस्तु के आधिकारिक तथा प्रासंगिक भेदों का अध्ययन किया। पुनः यह जाना कि प्रासंगिक कथावस्तु पताका तथा प्रकरी के भेद होते है। इसके बाद हमने अर्थप्रकृति तथा कार्यावस्थाओं का ज्ञान प्राप्त किया। फल की सिद्धि के उपाय ही अर्थप्रकृतियाँ कहलाती है। अर्थप्रकृतियाँ पाँच है- बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य फल की इच्छा वाले व्यक्ति द्वारा आरम्भ किये गये कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती है- आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, 4. नियताप्ति, 5. फलागम इसके पश्चात् नायक तथा नायिकाओं के भेदों का ज्ञान प्राप्त किया तथा अन्त में हमने रस स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव आदि का ज्ञान प्राप्त किया।

16.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. दशरूपकम्, बैजनाथ पाण्डेय, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली 2004.
2. दशरूपकम, भोलाशंकर व्यास, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, 2002.
3. दशरूपकम्, श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ,1969.
4. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा एवं दशरूपकम्, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2007.